

नियत अभ्यास 3

बुधवार 14 सितंबर को कक्षा से पहले जमा कीजिए।

1. <https://www.hindwi.org/kavita/striyan-anamika-kavita?sort=popularity-desc>

अनामिका की इस कविता को शब्द-शक्ति (अभिधा/लक्षणा/व्यंजना) के नज़रिए से पढ़िए और इस पर विस्तार से चर्चा कीजिए।

**स्त्रियाँ**

- अनामिका

पढ़ा गया हमको

जैसे पढ़ा जाता है कागज़

बच्चों की फटी कॉपियों का

चनाजोर गर्म के लिफ़ाफ़े बनाने के पहले!

देखा गया हमको

जैसे कि कुपूत हो उनींदे

देखी जाती है कलाई घड़ी

अलस्सुबह अलार्म बजने के बाद!

सुना गया हमको

यों ही उड़ते मन से

जैसे सुने जाते हैं फ़िल्मी गाने

सस्ते कैसेटों पर

ठसाठस्स भरी हुई बस में!

भोगा गया हमको

बहुत दूर के रिश्तेदारों के

दुःख की तरह!

एक दिन हमने कहा

हम भी इंसान हैं—

हमें क्रायदे से पढ़ो एक-एक अक्षर

जैसे पढ़ा होगा बी.ए. के बाद

नौकरी का पहला विज्ञापन!

देखो तो ऐसे

जैसे कि ठिठुरते हुए देखी जाती है

बहुत दूर जलती हुई आग!

सुनो हमें अनहद की तरह

और समझो जैसे समझी जाती है

नई-नई सीखी हुई भाषा!

इतना सुनना था कि अधर में लटकती हुई

एक अदृश्य टहनी से

टिड्डियाँ उड़ीं और रंगीन अफ़वाहें

चीखती हुई चीं-चीं

‘दुश्चरित्र महिलाएँ, दुश्चरित्र

महिलाएँ—

किन्हीं सरपरस्तों के दम पर फूलीं-फैलीं

अगरधत्त जंगली लताएँ!

खाती-पीती, सुख से ऊबी

और बेकार बेचैन, आवारा महिलाओं का ही

शग़ल हैं ये कहानियाँ और कविताएँ...।

फिर ये उन्होंने थोड़े ही लिखी हैं

(कनखियाँ, इशारे, फिर कनखी)

बाक़ी कहानी बस कनखी है।

हे परमपिताओ,

परमपुरुषो—

बख़्शो, बख़्शो, अब हमें बख़्शो!

2. नीचे लिखी कहानी पढ़ कर इसके विषय-वस्तु और भाषा-शैली पर विस्तार से चर्चा करें।  
<https://www.hindwi.org/story/partition-swayam-prakash-story>

## पार्टीशन

- स्वयं प्रकाश

आप कुर्बान भाई को नहीं जानते? कुर्बान भाई इस क़स्बे के सबसे शानदार शख्स हैं। क़स्बे का दिल है आज़ाद चौक और ऐन आज़ाद चौक पर कुर्बान भाई की छोटी सी किराने की दुकान है। यहाँ हर समय सफ़ेद क़मीज़-पजामा पहने दो-दो, चार-चार आने का सौदा-सुलफ़ माँगती बच्चों-बड़ों की भीड़ में घिरे कुर्बान भाई आपको नज़र आ जाएँगे। भीड़ नहीं होगी तो उकड़ूँ बैठे कुछ लिखते होंगे। बार-बार मोटे फ़्रेम के चश्मे को उँगली से ऊपर चढ़ाते और माथे पर बिखरे आवारा, अधकचरे बालों को दाएँ या बाएँ हाथ की उँगलियों में फँसा पीछे सहेजते। यदि आप यहाँ से सौदा लेना चाहें तो आपका स्वागत है। सबसे वाजिब दाम और सबसे ज़्यादा सही तौल और शुद्ध चीज़। जिस चीज़ से उन्हें खुद तसल्ली नहीं होगी, कभी नहीं बेचेंगे। कभी धोखे से दुकान में आ भी गई तो चाहे पड़ी-पड़ी सड़ जाए, आपको साफ़ मना कर देंगे। मिर्च? आपके लायक़ नहीं है। रंग मिली हुई आ गई है। तेल! मज़ेदार नहीं है। रेपसीड मिला है। दीया-बत्ती के लिए चाहें तो ले जाएँ।

यही वजह है कि एक बार जो यहाँ से सामान ले जाता है, दूसरी बार और कहीं नहीं जाता। यूँ चारों तरफ़ बड़ी-बड़ी दुकानें हैं—सिंधियों की, मारवाड़ियों की, पर कुर्बान भाई का मतलब है, ईमानदारी। कुर्बान भाई का मतलब है, उधार की सुविधा और भरोसा।

लेकिन एक बात का ध्यान रखिएगा जो सामान आप ले जा रहे हैं, उसका लिफ़ाफ़ा या थैली बग़ैर देखे मत फेंकिएगा। मुम्किन है उस पर कोई खुद्दार या ख़ूख़ार शेर लिखा हो। न जाने कितने लोग उनसे कह-कहकर हार गए कि ग़ल्ले में एक कौपी रख लें, शेर होते ही फ़ौरन उसमें दर्ज कर लें। कुर्बान भाई सुनते हैं, सहमत भी हो जाते हैं, जो चीज़ें खो गई उन पर दुखी भी होते हैं, पर करते वहीं हैं।

मेरा भी इस शानदार आदमी से इसी तरह परिचय हुआ। दफ़्तर से लौटते हुए कुर्बान भाई की दुकान में कोई चीज़ लेकर घर आया...लिफ़ाफ़े पर लिखा था—

“फ़क़त पास-ए-वफ़ादारी है, वरना कुछ नहीं मुश्किल।

बुझा सकता हूँ अंगारे, अभी आँखों में पानी है।”

और यह आदमी आज भी चार-चार आने के सौदे तौल रहा है! और क्यों तौल रहा है, इसकी भी एक कहानी है।

कुर्बान भाई के पिता का अजमेर में रंग का लंबा-चौड़ा कारोबार था। दो बड़े-बड़े मकान थे। हवेलियाँ कहना चाहिए।

नया बाज़ार में खूब बड़ी दुकान थी। बारह नौकर थे। घर में बग्घी तो थी ही, एक ‘बेबी ऑस्टिन’ भी थी जो ‘सैर’ पर जाने के काम आती थी। संयुक्त परिवार था। पिता मौलाना आज़ाद के शैदाइयों में से थे। बड़े-बड़े लीडर और शाइर घर आकर ठहरते थे। कुर्बान भाई उस वक़्त अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में पढ़ रहे थे। न भविष्य की चिंता थी न बुढ़ापे का डर! मज़े से ज़िंदगी गुज़र रही थी। इश्क़, शाइरी, होस्टल, ख़्वाब!

तभी पार्टीशन हो गया। दंगे हो गए। दुकान जला दी गई। रिश्तेदार पाकिस्तान भाग गए, दो भाई क़त्ल कर दिए गए।

पिता ने सदमे से खटिया पकड़ ली और मर गए। नौकर घर की पूँजी लेकर भाग गए। बचे-खुचों को लेकर अपनी जान लिए-लिए कुर्बान भाई नागौर चले गए। वहाँ से मेड़ता, मेड़ता से टोंक। कहाँ जाएँ? कहाँ सिर छिपाएँ? क्या पाकिस्तान चले जाएँ? नहीं गए। क्योंकि जोश नहीं गए, क्योंकि सुरैया नहीं गई, क्योंकि कुर्बान भाई को अच्छे लगने वाले बहुत से लोग नहीं गए। तो कुर्बान भाई क्यों जाते?

धीरे-धीरे घर की बिकने लायक चीज़ें सब बिक गईं और कहीं कोई काम, कोई नौकरी नहीं मिली, जो उस दौर में मुसलमानों को मिलना बेहद मुश्किल थी। तिस पर हुनर कोई जानते नहीं थे, तालीम अधूरी थी। आखिर एक सेठ के यहाँ हिसाब लिखने का काम करने लगे, लेकिन अपनी आदर्शवादिता, ईमानदारी, दयानतदारी, शराफ़त आदि दुर्गुणों के कारण जल्द ही निकाल दिए गए...। लेकिन मालिक होने का ठसका एक बार टूटा तो टूटता चला गया। स्थिति यह थी कि हिंदुओं में निभने की कोशिश करते तो शक-ओ-शुब्हे की बर्छियों से छेद-छेद दिए जाते और मुसलमानों में खपने की कोशिश करते तो लीगियों के धार्मिक उन्माद का जवाब देते-देते टूक-टूक हो जाते।...उतरते गए...मज़दूरी तक, हम्माली तक छुटपुट कारीगरी तक...इंसानियत तक। नए-नए काम सीखे। मजबूरी सिखा ही देती है। साइकिल के पंचर जोड़े, पीपों-कनस्तरों की झालन लगाई, ताले-छतरियाँ, लालटेनें ठीक कहीं...चूनरी-बंधेज की रंगाई में काम किया...हाथी दाँत की चूड़िया काटी...शहर दर शहर...अब हमला सांप्रदायिक उन्माद का नहीं, मशीन का हो रहा था...जो चीज़ पकड़ते...धीरे-धीरे हाथ से फिसलने लगती। धक्के खाते-खाते पता नहीं कब कैसे यहाँ इस क्रस्बे में आ गए और एक बुजुर्ग नमाज़ी मुसलमान से पचास रुपए उधार लेकर एक दिन यह दुकान खोल बैठे।...कुछ पुड़ियों में

दाल-चावल...माचिस...बीड़ी-सिगरेट-गोभी-चाकलेट...क्या बताऊँ? किस तरह बताऊँ? एक आदमी के दर्द और संघर्ष की तवील दास्तान का सिर्फ़ अपनी सुविधा के लिए चंद अल्फ़ाज़ में निबटा देना...न सिर्फ़ ज़ियादती है, बल्कि उस संघर्ष का अपमान, ...उसका मज़ाक उड़ाने जैसा भी है। पर क्या करूँ, कहानी जो कहने जा रहा हूँ—दूसरी है।

दुकान के ज़रा जमते ही कुर्बान भाई ने अख़बार मँगाना शुरू कर दिया। ठीया हो गया, पहनने को दो जोड़ी कपड़े हो गए, रोटेशन चल गया, गिराकी जम गई तो आगे ख़्वाहिश कौन सी थी? बच्चे कोई जिए नहीं थे, शौक़-मौज, सैर-सपाटा भूल ही चुके थे, मियाँ-बीवी दो जनों के लिए अल्लाह का दिया बहुत था...पत्रिकाएँ क्यों न मँगाते? और उस समय कोई पत्रिका आती तो बुकपोस्ट हो या वी.पी., उसे लेने कुर्बान भाई खुद पोस्ट ऑफ़िस पहुँच जाते। पत्रिका को बड़े जतन से सँभालकर रखते और उसका पन्ना-पन्ना, हर्फ़-हर्फ़ चाट जाते। कई-कई बार, जैसे किसी भूखे-प्यासे को छप्पन भोग मिल गए हों। अदब से अब भी इसी तरह मोहब्बत करते हैं। पत्रिकाएँ मँगाकर, ख़रीदकर पढ़ते हैं और उनकी फ़ाइल हिफ़ाज़त से रखते हैं।

इसी सिलसिले में...उनके संस्कार बोलने लगे। लोगों ने देखा, यह शख्स कभी झूठ नहीं बोलता...ठगी-चार सौ बीसी नहीं करता...कम नहीं तौलता...अबे-तबे नहीं करता...गंदे मज़ाक नहीं करता...अदब से बोलता है और आड़े वक्रत पर हरेक के काम आता है...हर काम में इसके एक नफ़ासत...संस्कारिता छलकती है...इसलिए धीरे-धीरे क़स्बे में प्रतिष्ठित लोग दुआ-सलाम करने लगे...व्यापारियों के यहाँ शादी-ब्याह कुछ होता...उनके कार्ड आने लगे। आकर्षित होकर खग के पास खग भी आने लगे। अब कुर्बान भाई उन्हें चाय पिला रहे हैं और ग्राहकी छोड़कर ग़ालिब पर बहस कर रहे हैं।

आहिस्ता-आहिस्ता कुर्बान भाई की दुकान पढ़े-लिखों का अड्डा बन गई। लेक्चरर, अध्यापक, पत्रकार, पढ़ने-खिलने वाले। शाम होते ही कुर्बान भाई की दुकान ठहाकों और बहसों से गुलज़ार हो जाती। कुर्बान भाई आदाब अर्ज़ करते...चाय वाले को चाय के लिए आवाज़ लगाते हैं और टाट की कोई बोरी निकालकर चबूतरे पर बिछा देते। ग्राहकी भी चलती रहती, बहसों भी, ठहाके भी, और बीच-बीच में इसमें भी संकोच नहीं करते कि किसी को छाबड़ी पकड़ाकर दूर रखे थैले से किलो-भर साबुत मिर्च भरने में पिसे नमक की थैली निकाल देने या दस चीज़ों का टोटल मिला देने जैसा काम पकड़ा दें। बड़ा मज़ेदार दृश्य होता कि अंग्रेज़ी साहित्य का व्याख्याता सड़क पर खड़ा फटक-फटककर लहसुन के छिलके उड़ा रहा है या प्रांतीय अख़बार का संवाददाता उकड़ूँ बैठकर चबूतरे के नीचे रखी बोरी से मुलतानी मिट्टी निकाल रहा है या इतिहास के वरिष्ठ अध्यापक...

हम लोगों के संपर्क से कुर्बान भाई बदलने लगे। उन्हें पहली बार महसूस हुआ कि उनकी एक अदबी शख्सियत भी है। हमने उनसे उर्दू सीखी, उनकी लाइब्रेरी (जो काफ़ी समृद्ध हो गई थी) को तरतीब दी, रिसालों की जिल्दें बनवाई और उस लाइब्रेरी का ख़ूब लाभ उठाया। हम लोग कुर्बान भाई को पकड़-पकड़कर मुशाइरों-नशिस्तों में ले जाने लगे। हमने उन्हें ऐसी पत्रिकाएँ दिखाई, जैसी उन्होंने पहले कभी देखी थीं...ऐसे लेखकों-कवियों के बारे में बताया जो सिर्फ़ उनकी कल्पना में ही थे...ऐसे शाइरों की रचनाएँ सुनाई जो साफ़ी-शराब वग़ैरा को कब का अलविदा कह चुके थे और ऐसी राजनीति से उनका परिचय कराया, जिसके बारे में उन्होंने अब तक सिर्फ़ उड़ती-उड़ती बातें ही सुनी थीं। उनके दिमाग़ में भी काफ़ी मज़हबी कबाड़ भरा हुआ था, शुरू से प्रबुद्ध होने के बावजूद, हम झाड़ लेकर पिल पड़े...हमने उन्हें अख़बार और विचार का चस्का लगा दिया, जैसा पहले किसी ने करना ज़रूरी नहीं समझा था।

नतीजा यह निकला कि वे हफ़्ते में एक रोज़ छुट्टी रखने लगे, रात को खाने के बाद हमारे साथ घूमने जाने लगे...अपने अतीत के बारे में सोच-सोचकर गुस्से में भरे रहने की बजाय भविष्य की तरफ़ देखकर कभी-कभी चहकने भी लगे और हमारे नज़दीक से नज़दीकतर होने लगे। एक नए क्रिस्म का लौंडापन उन पर चढ़ने लगा। उन्हें हमारी लत पड़ने लगी।

वे हमारा हर शाम इंतज़ार करते और हम नहीं पहुँच पाते तो वे खुद हमारे घर आ जाते।

अब हुआ यह भी कि क़स्बे के शरीफ़ और प्रतिष्ठित व्यक्ति होने की कुर्बान भाई की ख्याति से हमें लाभ न हुआ हो, हमारी बदनामी की लपेट में वे भी आने लगे। जिस परिमाण में कुर्बान भाई का जो समय हमें मिलता, उसी परिमाण में वह उनके पुराने दोस्तों-लतीफ़ साहब, हाजी साहब, इमाम साहब वग़ैरा के हिस्से से कम हो जाता। नमाज़ पढ़ने वे सिर्फ़ शुक्रवार को जाते थे, अब वह भी बंद कर दिया। वाज़ वग़ैरा में चलने को कोई पहले भी उनसे नहीं कहता था, अब भी नहीं कहता। मदरसे को पहले भी चंदा देते थे, अब भी देते। हाँ, कभी-कभी होने वाली राजनीतिक सभाओं में जाने को और क़स्बे की राजनीति में दिलचस्पी लेने को उनके लिए ख़तरनाक समझकर बिरादरी वाले उन्हें टोकने ज़रूर लगे। पॉलिटिक्स अपने लोगों के लिए नहीं है, समझो? चुपचाप सालन-रोटी खाओ और अल्लाह का नाम लो। चैन से जीना है तो इन लफ़्ज़ों में मत पड़ो। बेकार कभी धर लिए जाओगे...हमें भी फँसवाओगे। अब यहाँ रहना ही है तो...पानी में रहकर मगरमच्छों को मुँह चिढ़ाने से क्या फ़ायदा?

लेकिन अपनी मस्ती में मस्त थे हम लोग। न हमें पता चला न खुद कुर्बान भाई को कि उन्हें झमामबाड़े वाले ही नहीं, शाखा वाले भी घूरते हुए निकलने लगे हैं। शाम को उनकी दुकान पर आने वाले कुछ देशप्रेमी क्रिस्म के लोगों की सतत

अनुपस्थिति का गूढ़ार्थ भी हमने नहीं समझा। इसलिए आखिर वह घटना हो गई जिसने इस कहानी को एक ऐसे अप्रिय मुकाम तक पहुँचा दिया जो मन को कड़वाहट से भर देता है।

एक दिन दोपहर की बात है। एक बैलगाड़ी वाले ने ठीक उनकी दुकान के सामने गाड़ी रोकी। बैल खोले और गाड़ी का अगला हिस्सा कुर्बान भाई के चबूतरे पर टिका दिया। गाँव से आने वाले इसी चौक में गाड़ियाँ खड़ी करते हैं, बैल खोलते हैं और उन्हें चारा डालकर अपना काम-काज निपटाने चले जाते हैं। शाम को लौटते हैं और जोतकर चले जाते हैं। लेकिन वे गाड़ी किसी की दुकान के ऐन सामने खड़ी नहीं करते और किसी के चबूतरे पर रखने का तो सवाल ही नहीं उठता। इस शख्स ने तो इस तरह गाड़ी खड़ी की थी कि अब कोई ग्राहक कुर्बान भाई की दुकान तक पहुँच ही नहीं सकता था, बल्कि वे खुद भी पड़ोसी के चबूतरे पर से हुए बिना नीचे नहीं उतर सकते थे। गाड़ी वाला वकील ऊखचंद का हाली था और कुर्बान भाई को मालूम था कि अभी वह गाड़ी खड़ी करके गया और शाम को ही लौटेगा। कुर्बान भाई ने उससे गाड़ी ज़रा बाज़ू में खड़ी करने और बैलों को किनारे बाँध देने को कहा। उसने अनसुनी कर दी। कुर्बान भाई ने फिर कहा तो एक नज़र उन्हें देखकर अपने रास्ते चल पड़ा। कुर्बान भाई ने खुद उठकर चबूतरे पर टिके उसकी गाड़ी के अगले छोर को उठाया और गाड़ी को धकाकर...लेकिन तभी उस आदमी ने कुर्बान भाई का गरेबान पकड़ लिया और गालियाँ बकने लगा। और कुर्बान भाई का चश्मा नोच लिया और धक्का-मुक्की करने लगा। ठीक इसी समय कोर्ट से लौटते वकील ऊखचंद उधर से गुज़रे और उन्होंने आवाज़ मारकर पूछा, 'क्या हुआ रे गोम्या?' गोम्या बोला, 'म्हने कूटे!' यानी मुझे मार रहा है। वकील ऊखचंद ने पूछा, 'कौन?' गोम्या बोला, 'ये मीरों!'

कुर्बान भाई सन्न रह गए। बात समझ में आते-आते भीतर हचमचा गए। आँखों के आगे तारे नाचने लगे। वहीं ज़मीन पर उकड़ूँ बैठ गए और सिर पकड़ लिया। अँधेरे का एक ठोस गोला कलेजे से उठा और हलक़ में आकर फँस गया। बरसों से जमी रुलाई एक साथ फूट पड़ने को ज़ोर मारने लगी।

यह क्या हुआ?...कैसे हुआ? क्या गोम्या उन्हें जानता नहीं? एक ही मिनट में वह 'कुर्बान भाई' से 'मियाँ' कैसे बन गए? एक मिनट भी नहीं लगा! बरसों से तिल-तिल मरकर जो प्रतिष्ठा उन्होंने बनाई...हर दिन हर पल जैसे एक अग्नि-परीक्षा से गुज़रकर, जो सम्मान, जो प्यार अर्जित किया...हर दिन खुद को समझाकर...कि पाकिस्तान जाकर भी कोई नवाबी नहीं मिल जाती...जैसे हैं यहीं मस्त हैं...अल्लाह सब देखता है...जाने दो जोश को, डूबने दो सुरैया का सितारा...भुला देने दो दोस्तों को...लुट जाने दो कारोबार को...झूठे बदमाशों के क़ब्ज़े में चली जाने दो

हवेलियाँ...गुमनाम पड़ी रहने दो भाइयों की क़र्ब्रें...दफ़ना दो भरे-पूरे घर का सपना...शायद कभी फिर अपना भी दिन आए...तब तक सब्र कर लो...क्या-क्या क़ीमत रोज़ चुकाकर क़स्बे में थोड़ा सा अपनापन...थोड़ी सी सामाजिक सुरक्षा...थोड़ा सा आत्मविश्वास....थोड़ी सी सहजता उन्होंने अर्जित की थी...और कितनी बड़ी दौलत समझ रहे थे इसको...और लो! तिल-तिल करके बना पहाड़ एक फ़ूँक में उड़ गया! एक जाहिल आदमी...लेकिन जाहिल वो है या मैं? मैं एक मिनिट-भर में 'कुर्बान भाई' से 'मियाँ' हो जाऊँगा, यह कभी सोचा क्यों नहीं? अपनी मेहनत का खाते हैं। फिर भी ये लोग हमें अपनी छाती का बोझ ही समझते हैं। यह बात कभी नज़र क्यों नहीं आई? पाकिस्तान चले जाते...तो लाख गुर्बत बर्दाश्त कर लेते...कम से कम ऐसी ओछी बात तो नहीं सुननी पड़ती। हैफ़ है! धिक्कार है! लानत है ऐसी ज़िंदगी पर!

अल्लाह! या अल्लाह!!

वकील ऊखाचंद गोम्या हाली को समझाते-बुझाते साथ ले गए। गाड़ी-बैल वहीं छोड़ गए। अड़ोसियों-पड़ोसियों ने कुर्बान भाई को सँभाला। उनकी बत्तीसी भिंच गई थी और होंठों के कोनों से झाग निकल रहे थे। लोगों ने गाड़ी-बैल हटाए। कुर्बान भाई को चबूतरे पर लिटाया! हवा की! मुँह पर ठंडे पानी के छींटे दिए। वकील ऊखाचंद को गालियाँ दीं। कुर्बान भाई को आश्वस्त करने का प्रयत्न किया। उन्हें क्या मालूम था, कुर्बान भाई के भीतर क्या टूट गया? अभी-अभी। जिसे उन्होंने इतने बरस नहीं टूटने दिया था। अंदर की चोट दिखाई कहाँ देती है?

लोग इकट्ठे हो गए। सारे क़स्बे में ख़बर फैल गई। जिस-जिस को पता चलता गया, आता गया। हम लोग भी पहुँच गए। अब बीसियों लोग थे और बीसियों बातें। काफ़ी देर फ़न्नाने-फुफकारने के बाद तय हुआ कि यह बदतमीज़ी चुपचाप बर्दाश्त नहीं करनी चाहिए। थाने में रपट लिखानी चाहिए।

लिहाज़ा चला जुलूस थाने।...पर रास्ते में किसी को पेशाब लग गया, किसी को हगास। थाने पहुँचते-पहुँचते सिर्फ़ हम लोग रह गए कुर्बान भाई के साथ!

थानेदार नहीं थे। अभी-अभी मोटर साइकिल लेकर कहीं निकल गए। मुंशी था। मुंशी ने रपट लिखने से साफ़ इंकार कर दिया। क्यों न करता? थानेदार के पास पहले ही वकील ऊखाचंद का टेलीफ़ोन आ चुका था। वकील ऊखाचंद सत्ता पार्टी के ज़िला मंत्री थे। कुर्बान भाई कौन थे? हम लोग कौन थे?

आधे घंटे तक हुज्जत और डेढ़ घंटे तक थानेदार की प्रतीक्षा करने के बाद अपना सा मुँह लेकर लौट आए। शाम को

फिर आएँगे। शाम को हम लोगों के सिवा दुकान पर कोई नहीं पहुँचा। और हम लोगों के साथ थाने चलने का ज़रा भी उत्साह कुर्बान भाई ने नहीं दिखाया। दुकानदारी ने उन्हें जैसे एकदम व्यस्त कर लिया, जैसे हमसे बात करने का भी समय नहीं।

एक अपराध-बोध के तहत हम भी कुर्बान भाई से कटे-कटे रहने लगे। हालाँकि घटना इतनी बड़ी नहीं थी, जिसे तूल दिया जाए। थानेदार तो क्या...कोई भी होता...खुद पुलिस-उलिस के चक्कर में पड़ने के बजाय जो हो गया, उसे एक जाहिल आदमी की मूर्खता मानकर भूल जाने को तैयार हो जाता। पर हम...हमें लग रहा था...हमारे दोस्त पर हमला हुआ और हम कुछ नहीं कर सके, किसी काम नहीं आ सके। यह भी लग रहा था कि ज़्यादा उत्साह दिखाया तो कुर्बान भाई के लिए और मुसीबतें खड़ी हो जाएँगी, हम कुछ नहीं कर पाएँगे। यह भी लग रहा था कि जो हुआ, उसमें पुलिस से हस्तक्षेप और सहायता की उम्मीद बेकार है। इसका मुकाबला राजनीतिक स्तर पर ही किया जा सकता है, जिसके लिए जल्दी से जल्दी अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिए, पाँच से पचास हो जाना चाहिए।

लेकिन यह सब बहानेबाज़ी थी। सच यह है कि कुर्बान भाई को एकदम अकेला छोड़ दिया था। शायद हम उनकी तकलीफ़ को शेयर कर ही नहीं सकते थे, पर हमें कोशिश ज़रूर करनी चाहिए थी।

कुर्बान भाई की दुकान पर कई दिन पहले का सा रंगतदार जमावड़ा नहीं हुआ। वह बुझे-बुझे से रहते थे, बहुत कम बोलते थे और हमें देखते ही दुकानदारी में व्यस्त हो जाते थे। वे घुट रहे थे और घुल रहे थे...पर खुल नहीं रहे थे। हम उन्हें नहीं खोल पाए। एक दिन जब मैं पहुँचा, मेरी तरफ़ उनकी पीठ थी, किसी से कह रहे थे—आप क्या खाक हिस्ट्री पढ़ाते हैं? कह रहे हैं पार्टिशन हुआ था! हुआ था नहीं, हो रहा है, जारी है...और मुझे देखते ही चुप होकर काम में लग गए।

इस कहानी का अंत अच्छा नहीं है। मैं चाहता हूँ कि आप उसे नहीं पढ़ें। और पढ़ें तो यह ज़रूर सोचें कि क्या इसका कोई और अंत हो सकता था? अच्छा अंत? अगर हो, तो कैसे?

बात बस यह बची है कि कई दिन बाद जब एक दोपहर मैं आज़ाद चौक से गुज़र रहा था जिसका नाम अब संजय चौक कर दिया गया था और वह शुक्रवार का दिन था—मैंने देखा कि कुर्बान भाई की दुकान के सामने लतीफ़ भाई खड़े हैं...। और कुर्बान भाई दुकान में ताला लगा रहे हैं।...और उन्होंने टोपी पहन रखी है... और फिर दोनों मस्जिद की तरफ़ चल दिए हैं।